वैचारिक नवोन्मेष की ज़मीन

तीन साक्ष्य

राकेश पाण्डेय

पत्रिका के इस हिस्से में हम आधुनिक भारत में बौद्धिक स्वातंत्र्य और सृजनात्मकता के पहलुओं से जूझते और उन पर नये सवाल खड़े करते चिंतन के कुछ प्रयास सामने रख रहे हैं। यह आधुनिक संदर्भ में बौद्धिक परम्पराओं की निर्मिति और सम्भावना से जुड़े प्रश्नों की ओर पलट कर देखना है। और हमारी समकालीन अवस्थिति पर विचार भी। लेकिन परम्परा को आदर्शीकृत या महिमा-मंडित करना कतई नहीं। बौद्धिक परम्परा की हमारी थाती कभी इकहरी नहीं रही। भरसक वह एक साथ खड़ी कई नयी पुरानी परम्पराओं के जटिल गुँथाव में ही सिरजी जाती रही है। लोक और लोकोत्तर को बेहतर रोशनी में देखे जाने के लिए तर्कणा और पूर्व-पक्ष की कसौटी पर खोजे गये सच की प्रतिष्ठा पर ही इस परम्परा में ज़ोर रहा है। एक तरह का प्रातिभ संज्ञान और पुनर्नवा भाव यदि ज्ञान की इस परम्परा के राजपथ की रचना करते हैं, तो आख़िर ऐसा क्या है जिसके कारण औपनिवेशिक युग में बौद्धिक कर्म और उसकी देशज परम्परा की जीवंतता को लेकर सवाल खड़े हो जाते हैं! उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशक तक तो पूरे भारत में एक तरह के बौद्धिक पुनर्जीवन की माँग सुनायी पड़ने लगती है। निश्चय ही यह माँग औपनिवेशिक काल में पनपे सामाजिकऔर धार्मिक सुधार आंदोलनों की छाया में उपजती है। अक्सर इसकी कसौटियाँ सीधे-सीधे व्यावहारिक और रोज़मर्रा के सरोकारों को प्रभावित करती नहीं दिखतीं और इस कारण वे कुछ और तरह के सवालों के साथ आकार लेती हैं। ऐसा मुख्यत: पश्चिम में पनपी सभ्यता, संस्कृति और आधुनिक विज्ञान से जुड़ी अवधारणाओं के पूरे दुनिया में फैलते प्रभाव में होता है। बीसवीं सदी की शुरुआत से ही राष्ट्रवादी चिंतन के प्रभाव में सभ्यता और संस्कृति के मूल-स्रोतों की खोज मानो एक विराट आंदोलन का रूप ले लेती है। सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की पहुँच में होती टाउन-हॉल सभाओं से लेकर आधुनिक विश्वविद्यालयों के लेक्चर-हॉल्स तक, पश्चिमी शिक्षा में पगे विद्वानों के बैठक-खानों से लेकर भारतीय मनीषा के नवोन्मेष में लगे साधकों की